जैन दर्शन का तात्त्विक पक्ष : वस्तु–स्वातन्त्र्य

डा. हुकमचन्द भारिल्ल

जैन दर्शन में वस्तु के जिस अनेकान्तात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसमें वस्तुस्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसमें मात्र जन-जन की स्वतन्त्रता की ही चर्चा नहीं, अपितु प्रत्येक द्रव्य की पूर्ण स्वतन्त्रता का सतर्क व सशक्त प्रतिपादन हुआ है। उसमें 'स्वतन्त्र होना है' की चर्चा नहीं 'स्वतन्त्र है' की घोषणा की गई है। 'होना है' में स्वतन्त्रता की नहीं, परतन्त्रता की स्वीकृति है, 'होना है' अर्थात् नहीं है। जो है उसे क्या होना? स्वभाव से प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र ही है। जहां होना है की चर्चा है, वह पर्याय की चर्चा है। जिसे स्वभाव की स्वतन्त्रता समझ में आती है, पकड़ में आती है, अनुभव में आती है, उसकी पर्याय में स्वतन्त्रता प्रकट होती है अर्थात् उसको स्वतन्त्र पर्याय प्रकट होती है।

वस्तुतः पर्याय भी परतन्त्र नहीं है। स्वभाव की स्वतन्त्रता की अजानकारी ही पर्याय की परतन्त्रता है। पर्याय के विकार का कारण 'मैं परतन्त्र हूं' ऐसी मान्यता है, न कि परपदार्थ। स्वभाग-पर्याय को तो परतन्त्र कोई नहीं मानता पर विकारी–पर्याय को परतन्त्र कहा जाता है। उसकी परतन्त्रता का अर्थ मात्र इतना है कि वह परलक्ष्य से उत्पन्न हुई है। पर के कारण किसी द्रव्य की कोई पर्याय उत्पन्न नहीं होती।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र एवं परिणमनशील है, वह अपने परिणमन का कर्ताधर्ता स्वयं है, उसके परिणमन में पर का हस्तक्षेप रंचमात्र भी नहीं है। यहाँ तक कि परमेश्वर (भगवान) भी उसकी सत्ता एवं परिणमन का कर्ता-हर्ता नहीं है। दूसरों के परिणमन अर्थात् कार्य में हस्तक्षेप की भावना ही मिथ्या, निष्फल और दुख का कारण है। क्योंकि सब जीवों के जीवन-मरण, सुख-दुख स्वयंकृत कर्म के फल हैं। एक दूसरे को एक दूसरे के दुःख-सुख और जीवन मरण को कर्ता मानना अज्ञान है। कहा है :—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय–
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञानमेतदिहं यत्तुः परः परस्य,
कुर्यात्पुमान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।।[1]

यदि एक प्राणी को दूसरे के दुःख सुख और जीवन-मरण को कर्त्ता माना जाए तो फिर स्वयंकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होंगे। क्योंकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करें और कोई दूसरा व्यक्ति यदि वह कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, क्या वह हमें सुखी कर सकता है? इसी प्रकार हम अच्छे कार्य करें और कोई व्यक्ति, यदि वह ईश्वर ही क्यों न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है? यदि हाँ, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यों से डरना व्यर्थ है क्योंकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नहीं? और यदि यह सही है कि हमें अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। इसी बात को अमितगति आचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

स्वयं कृतः कर्मयदात्मनापुरा,
फलं तदीयं लभते-शुभाशुभं।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं,
स्वयं कृतं निरर्थकं तदा।।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो,
न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेव मनन्य मानसः,
परो ददातीति विमुचय शेमु मां।।[2]

---

१. आचार्य अमृतचन्द्र (समयसार कलश १६८)

२. भावना द्वात्रिंशतिका (सामायिक पाठ) छन्द ३०–३१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य अमृतचन्द्र[3] तो यहाँ तक कहते हैं कि पर द्रव्य और आत्म तत्व में कोई भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्वयोः ।

कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ।।

विभिन्न द्रव्यों के बीच सर्व प्रकार के सम्बन्ध का निषेध ही वस्तुतः पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा है। पर के साथ किसी भी प्रकार के संबंध की स्वीकृति परतन्त्रता को ही बताती है।

अन्य सम्बन्धों की अपेक्षा कर्ताकर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतन्त्रता का सूचक है। यही कारण है कि जैन दर्शन में कर्तावाद का स्पष्ट निषेध किया है। कर्तावाद के निषेध का तात्पर्य मात्र इतना नहीं है कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है अपितु यह भी है, कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नहीं है। किसी एक महान शक्ति को समस्त जगत का कर्ता-हर्ता मानना एक कर्तावाद है तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता हर्ता मानना अनेक कर्तावाद।

जब जब कर्तावाद या अकर्तावाद की चर्चा चलती है तब तब प्रायः यही समझा जाता है कि जो ईश्वर को जगत का कर्ता माने वह कर्तावादी है और जो ईश्वर को जगत का कर्ता न माने वह अकर्तावादी। चूंकि जैन दर्शन ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानता, अतः वह अकर्तावादी दर्शन है।

जैन दर्शन का अकर्तावाद मात्र ईश्वरवाद के निषेध तक ही सीमित नहीं, किन्तु समस्त पर कर्तव्य के निषेध एवं स्वकर्तृत्व के समर्थन रूप है। अकर्तावाद का अर्थ ईश्वर कर्तृत्व का निषेध तो है, पर मात्र कर्तृत्व के निषेध तक भी सीमित नहीं, स्वयंकर्तृत्व पर आधारित है। अकर्तावाद यानी स्वयं कर्तावाद। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वयं कर्ता है। उसके परिणमन में पर का रंच-मात्र भी हस्तक्षेप नहीं है। स्वयं कर्तृत्व होने पर भी उसका भार जैन दर्शन को स्वीकार नहीं, क्योंकि वह सब सहज स्वभाववत् परिणमन है। यही कारण है कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ समयसार कर्ताकर्म अधिकार में ईश्वरवाद के निषेध की तो चर्चा तक ही नहीं की और संपूर्ण बल कर्तृत्व के निषेध एवं ज्ञानी को विकार के भी कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करने पर दिया। जो समस्त कर्तृत्व एवं कर्मत्व के भार से मुक्त हो, उसे ही ज्ञानी कहा है।

कुन्दकुन्द की समस्या अपने शिष्यों को ईश्वरवाद से उभारने की नहीं वरन् मान्यता में प्रत्येक व्यक्ति एक छोटा-मोटा ईश्वर बना हुआ है और माने बैठा है कि "मैं अपने कुटुम्ब, परिवार, देश व समाज को पालता हूँ, उन्हें सुखी करता हूँ और शत्रु आदिक को मारता हूँ व दुःखी करता हूँ अथवा मैं भी दूसरे के द्वारा सुखी-दुखी किया जाता हूं या मारा-बचाया जाता हूँ।" इस मिथ्या मान्यता से बचाने की थी। अतः उन्होंने कर्तावाद संबंधी उक्त मान्यता का कठोरता से निषेध किया है उन्हीं के शब्दों में:—

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परोहिं सत्तोहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ।।२४।।
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एनो दु विवरीदो ।।२५०।।
जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद सुहिदे करोमि सत्ते ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ।।२५३।।
दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमेचिमि।
जो एसा मूढमई णिरत्थया सा ह दे मिच्छा ।।२६६।।[4]

जो यह मानता है कि मैं पर-जीवों को मारता हूँ और पर-जीव मुझे मारते हैं—वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो जीव यह मानता है कि मैं पर जीवों को जिलाता (रक्षा करता) हूँ और परजीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जो यह मानता है कि मैं पर जीवों को सुखी-दुखी करता हूँ और परजीव मुझे सुखी-दुखी करते हैं, वह मूढ़ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

मैं जीवों को दुःखी-सुखी करता हूँ, बांधता हूँ तथा छुड़ाता हूँ ऐसी जो यह तेरी मूढ़मति (मोहित बुद्धि) है वह निरर्थक होने से वास्तव में मिथ्या है।

उनका अकर्तृत्ववाद "मात्र ईश्वर जगत का कर्ता नहीं है" के निषेधात्मक मार्ग तक सीमित है। वह भी इसलिए कि वे जैन हैं और जैन दर्शन ईश्वर को जगत का कर्ता नहीं मानता है, अतः वे भी नहीं मानते। ईश्वर को कर्ता नहीं मानने पर भी स्वयं-कर्तृत्व उनकी समझ में नहीं आता।

पर के साथ आत्मा का कारकता के संबंध का निषेध प्रवचनसार की "तत्व प्रदीपिका" टीका में इस प्रकार किया है:—

अतो न निश्चयतः परेणसहात्मनः कारकत्व संबंधोऽस्ति।

जीव कर्म का और कर्म जीव का कर्ता नहीं है। इस बात को पंचास्तिकाय में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है:—

कुव्वं सगं सहाव अत्ता कत्ता समस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ।।६१।।

कम्मं पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्मम्मणामं ।।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ।।६२।।

कम्मं कम्मं कुव्वदि जदि सा अप्पा करेदि अप्पाणं।
किध तस्स फलं भुणादि अप्पा कम्मं च देहि फलं ।।६७।।

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्ता है, पुद्गल कर्मों का नहीं। ऐसा जिन वचन जानना चाहिए।

३. आचार्य अमृतचन्द्रः समयसार कलश २००

४. आचार्य कुन्दकुन्द (समयसार, बंध अधिकार)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और उसी प्रकार जीव भी कर्मस्वभाव भाव से अपने को करता है। यदि कर्म-कर्म को और आत्मा-आत्मा को करे तो फिर कर्म आत्मा को फल क्यों देगा और आत्मा उसका फल क्यों भोगेगा? अर्थात् नहीं भोगेगा।

जहाँ कर्तावादी दार्शनिकों के सामने जगत ईश्वरकृत होने से सादि स्वीकार किया गया है वहां अकर्तावादी या स्वयंकर्तावादी जैन दर्शन के अनुसार यह विश्व अनादि अनन्त है, इसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई इसका विनाश कर सकता है, यह स्वयं सिद्ध है। विश्व का कभी भी सर्वथा नाश नहीं होता, मात्र परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन भी कभी-कभी नहीं, निरन्तर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील। यह नित्यनित्यात्मक है। इसकी नित्यता स्वतः सिद्ध है और परिवर्तन स्वभावगत धर्म।

नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप है। सत् उत्पाद-व्यय ध्रौव्य से युक्त होता है।[5] उत्पाद और व्यय परिवर्तन-शीलता का नाम है और ध्रौव्य नित्यता का। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। अतः वह द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवार होता है।[6] जो द्रव्य के संपूर्ण भागों और समस्त अवस्थाओं में रहे उसे गुण कहते हैं तथा गुणों के परिणमन को पर्याय कहा जाता है।

प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अनन्त गुण होते हैं जिन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है। सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण सब द्रव्यों में समान रूप से पाये जाते हैं और विशेष गुण अपने-अपने द्रव्य में पृथक्-पृथक् होते हैं।

सामान्य गुण भी अनंत होते हैं और विशेष भी अनंत। अनन्त गुणों का कथन तो सम्भव नहीं है। अतः यह सामान्य गुणों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है:—

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रेमत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने अस्तित्व गुण के कारण है न कि पर के कारण। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य में एक द्रव्यत्व गुण भी है जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमित होता है उसे अपने परिणमन में पर से सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती है। अतः कोई भी अपने परिणमन में परमुखापेक्षी नहीं है। यही उसकी स्वतंत्रता का आधार है। अस्तित्व गुण प्रत्येक द्रव्य की सत्ता का आधार है और द्रव्यत्व गुण परिणमन का। अगुरुलघुत्व गुण के कारण एक द्रव्य का दूसरे में प्रवेश संभव नहीं है।

सद्भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है। कहा भी है—
"भवत्यभावोऽपि च वस्तु धर्मः"[7]

अभाव चार प्रकार का माना गया है,—

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य का दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव होने के कारण भी उसकी स्वतंत्रता सदाकाल अखण्डित रहती है जहाँ अत्यन्ताभाव द्रव्यों की स्वतंत्रता की दुंदुभि बजाते हैं।

जैन दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के आधारभूत इन सब विषयों की चर्चा जैन दर्शन में विस्तार से की गई है। इनकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ न तो संभव और न अपेक्षित। जिन्हें जिज्ञासा हो, जिन्हें जैन दर्शन का हार्ट जानना हो, उन्हें उसका गंभीर अध्ययन करना चाहिए। □

---

५. आचार्य उमास्वामी: तत्वार्थसूत्र, अध्याय ५ सूत्र ३०
६. वही अध्याय ५ सूत्र ३८
७. आचार्य समन्तभद्र: युक्त्यनुशासन, कारिका ३९

(जैन दर्शन में पुद्गल का स्वरूप.... पृष्ठ ६४ का शेष)

(स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द) के विषयभूत होते हैं, सूक्ष्म बादर कहलाते हैं। जैसे वायु, गैस आदि।

५. मनोवर्गणा, भाषा वर्गणा और वायु वर्गणा, अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध सूक्ष्म कहलाते हैं, ये इन्द्रिय ग्राह्य भी नहीं होते हैं।

६. अतीन्द्रिय सूक्ष्म स्कन्धों से भी सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध (द्विप्रदेशी) अति सूक्ष्म पुद्गल कहलाते हैं।

पुद्गल अस्तिकाय के स्वरूप को, उसकी दस प्रकार की अवस्थाओं द्वारा भी समझा जा सकता है। वे क्रमशः शब्द, बन्ध, सूक्ष्मस्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप तथा उद्योत हैं।

शब्द की उत्पत्ति महास्कन्धों के संघट्ट से होती है, बन्ध की स्थिति परमाणु तथा स्कन्ध दोनों में सम्भव है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ बन्ध होता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा के अनुसार बन्ध केवल एक ही स्थिति में होता है, जब दोनों पुद्गल परमाणु में स्निग्धता तथा रूक्षता के अंश जघन्य नहीं हों, और दोनों में दो अंशों से अधिक का अन्तर नहीं हो। इसी प्रकार सूक्ष्म, स्थूल, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत भी पुद्गल अस्तिकाय (स्कन्ध) की अवस्था है।

गुण की दृष्टि से पुद्गल परमाणु इस लोक में एक सिरे से दूसरे सिरे तक लगातार गति करते रहते हैं। लोक का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं हैं जहाँ पुद्गल का अस्तित्व नहीं हो। यह सर्वत्र व्याप्त है। पुद्गल परमाणुओं का स्कन्ध में तथा स्कन्ध का पुद्गल परमाणुओं में परिवर्तन लगातार होता रहता है, किन्तु यह परिवर्तन भी काल सापेक्ष दृष्टि से होता है।

चूंकि परमाणु पुद्गल की सूक्ष्मतम इकाई है और निश्चय नय की दृष्टि से ही मूर्त माना गया है। इसलिये स्वयं परमाणु में गलन मिलन की प्रक्रिया नहीं है। यदि किसी तरह से यह प्रमाणित हो जावे कि गलन-मिलन की प्रक्रिया केवल पुद्गल स्कन्धों पर ही लागू होती है, तो इस शुद्ध पुद्गल परमाणु को पुद्गल की परिभाषा से मुक्त किया जा सकता है। यह विचार का, शोध का विषय है।

पुद्गल की उपयोगिता के बारे में विचार करें तो पुद्गल का मनुष्य जीवन पर बहुत उपकार है। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना ही पौद्गलिक है। शरीर, आहार, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, द्रव्यमन, द्रव्य कर्म, नो कर्म सभी पुद्गल की ही पर्याय है। निश्चय नय की दृष्टि से देखा जावे तो जीव (शुद्ध) को छोड़कर संसार की प्रत्येक वस्तु पुद्गल पर्याय है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org